श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.11 - द्वितीय सोपान (अर्थ)

इस अध्याय में, भगवान श्री कृष्ण ने उद्धव को बद्ध और मुक्त जीवों के बीच अंतर, एक संत व्यक्ति की विशेषताएँ और भक्ति सेवा के अभ्यास के विभिन्न पहलुओं का वर्णन किया है। पिछले अध्याय में उद्धव ने बद्ध और मुक्त आत्माओं के संबंध में प्रश्न प्रस्तुत किए थे। अपने उत्तरों में, सर्वशक्तिमान भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि यद्यपि आत्मा भगवान का हीअंश है, प्रकृति के गुणों संसर्ग के कारण वह बद्ध हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अनादि काल से बँधी हुई है लेकिन जब वह शुद्ध भक्ति सेवा की शरण प्राप्त करता है, तो वह नित्य मुक्त हो जाता है। दिव्य ज्ञान जीव की मुक्ति का कारण है, और अज्ञान उसके बंधन का कारण है। ज्ञान और अज्ञान दोनों भगवान श्री कृष्ण की माया द्वारा उत्पन्न होते हैं और उनकी शाश्वत शक्तियाँ हैं। प्रकृति के गुणों के प्रति आकर्षित होने वाले जीव झूठे अहंकार से मोहित हो जाते हैं, जिसके कारण वे खुद को दुख, भ्रम, सुख, संकट, आदि के भोक्ता के रूप में देखते हैं। जीव (आत्मा) और परमात्मा दोनों एक ही शरीर में रहते हैं। उनमें अंतर यह है कि परमात्मा पूर्ण ज्ञानी होने के कारण भौतिक कर्मों के फल भोगने में लिप्त नहीं होता है, बल्कि केवल साक्षी के रूप में रहता है, जीव अज्ञानी होने के कारण अपने कर्मों का फल भोगता है। मुक्त जीव, अपने पिछले कर्मों की शेष क्रियाओं के कारण भौतिक शरीर के भीतर होते हुए भी, शरीर के सुख और दुख से परेशान नहीं होता है। वह ऐसे शारीरिक अनुभवों को वैसे ही देखता है जैसे अभी-अभी स्वप्न से जागा हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न के अनुभवों को देखता है। बद्ध जीव स्वभाव से शरीर के सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है, वह स्वयं को अपने शारीरिक अनुभवों का भोक्ता मान लेता है, जैसे कि एक व्यक्ति सपने में अपने सपने के अनुभवों की कल्पना करता है। जिस प्रकार जल पर परावर्तित सूर्य वास्तव में जल में बँधा नहीं है, और जिस प्रकार वायु आकाश के किसी विशेष भाग तक सीमित नहीं है, उसी प्रकार एक विरक्त अपने सभी बंधनों को काट देता है,ज्ञान की तलवार से। वह भौतिक शरीर के भीतर स्थित रहते हुए भी मुक्त रहता है। चाहे उसका अपमान किया जाए या उसकी स्तुति की जाए, वह निर्लिप्त रहता है। इसलिए उन्हें इस जीवन में भी मुक्त माना जाता है। मुक्त व्यक्ति इस संसार को समान रूप से देखता है। आत्मसंतुष्ट संत किसी की प्रशंसा या निंदा नहीं करते। वह किसी से फालतू बात नहीं करता और न ही भौतिक चीजों पर अपना मन लगाता है। वह हमेशा भगवान के ध्यान में ही लीन रहता है, इसलिए संसार की दृष्टि में वह पागल व्यक्ति प्रतीत होता है।

पूर्ण निश्चय के साथ आत्मज्ञान कर लेना चाहिए और इस भौतिक शरीर के साथ मिथ्या तादात्म्य को त्याग देना चाहिए। तब वह परम भगवान श्री कृष्ण के चरण कमलों में अपना

हृदय अर्पित कर सकता है और वास्तविक शांति प्राप्त कर सकता है। जब जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों से दूर हो जाता है, तो वह सर्वोच्च सत्य को जान कर परिपूर्ण हो जाता हैं।

भगवान कृष्ण के उपदेश को सुनने के बाद उद्धव ने आगे सत्संग की महिमा को समझने की इच्छा की प्रकट की ।

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या, गुणतो मे न वस्तुतः ।

गुणस्य मायामूलत्वान्- न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ 1॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा- प्यारे उद्धव ! आत्मा बद्ध है या मुक्त है, इस प्रकारकी व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहनेवाले सत्त्वादि गुणोंकी उपाधिसे ही होता है। वस्तुतः - तत्त्वदृष्टिसे नहीं। सभी गुण मायामूलक हैं- इन्द्रजाल हैं- जादूके खेलके समान हैं। इसलिये न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है ॥ 1॥

शोकमोहौ सुखं(म्) दुःखं(न्), देहापत्तिश्च मायया ।

स्वप्नो यथाऽऽत्मनः(ख्) ख्यातिः(स्), सं(व्)सृतिर्न तु वास्तवी ॥ 2॥

जैसे स्वप्न बुद्धिका विवर्त है— उसमें बिना हुए ही भासता है- मिथ्या है, वैसे ही शोक-मोह, सुख-दुःख, शरीरकी उत्पत्ति और मृत्यु - यह सब संसारका बखेड़ा माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं है ॥ 2 ॥

विद्याविद्ये मम तनू , विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।

मोक्षबन्धकरी आद्ये, मायया मे विनिर्मिते ॥ 3॥

उद्धव ! शरीरधारियोंको मुक्तिका अनुभव करानेवाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव करानेवाली अविद्या- ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं । मेरी मायासे ही इनकी रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है ॥ 3 ॥

एकस्यैव ममां(व्)शस्य, जीवस्यैव महामते ।

बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्- विद्यया च तथेतरः ॥ 4॥

प्रिय उद्धव ! तुम तो स्वयं बड़े बुद्धिमान् हो, विचार करो - जीव तो एक ही है। वह व्यवहारके लिये ही मेरे अंशके रूपमें कल्पित हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है। आत्मज्ञानसे सम्पन्न होनेपर उसे मुक्त कहते हैं और आत्माका ज्ञान न होनेसे बद्ध। और यह अज्ञान अनादि होनेसे बन्धन भी अनादि कहलाता है ॥ 4 ॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य, वैलक्षण्यं(म्) वदामि ते ।

विरुद्धधर्मिणोस्तात, स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ 5॥

वह भेद दो प्रकारका है— एक तो नित्यमुक्त ईश्वरसे जीवका भेद, और दूसरा मुक्त-बद्ध जीवका भेद । पहला सुनो) – जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही शरीर में नियन्ता और नियन्त्रितके रूपसे स्थित हैं। ऐसा समझो कि शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदयका घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होनेके कारण समान हैं और कभी न बिछुड़नेके कारण सखा हैं। इनके निवास करनेका कारण केवल लीला ही है। इतनी समानता होनेपर भी जीव तो शरीररूप वृक्षके फल सुख-दुःख आदि भोगता हैं, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोगकर कर्मफल सुख दुःख आदिसे असंग और उनका साक्षीमात्र रहता है। अभोक्ता होनेपर भी ईश्वरकी यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदिमें भोक्ता जीवसे बढ़कर है ॥ 5 ॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ,

यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।

एकस्तयोः(ख्) खादति पिप्पलान्न-

मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ 6॥

साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत् को भी जानता है, परन्तु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक रूपको जानता है और न अपने से अतिरिक्त जगत् को ! इन दोनोंमें जीव तो अविद्यासे युक्त होनेके कारण नित्यबद्ध हैं और ईश्वर विद्यास्वरूप होनेके कारण नित्यमुक्त है ॥ 6 ॥

आत्मानमन्यं(ञ्) च स वेद विद्वा-

नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।

योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो,

विद्यामयो यः(स्) स तु नित्यमुक्तः ॥ 7॥

ईश्वर अपने वास्तविक स्वरूप एवं जगत को भली भाँति जानता है परंतु जीव अपने वास्तविक रूप को नहीं जानता। जीव तो अविद्या से युक्त होने के कारण सदा ही बंधा हुआ है और ईश्वर विद्या स्वरूप होने के कारण हमेशा मुक्त है।

देहस्थोऽपि न देहस्थो, विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः ।

अदेहस्थोऽपि देहस्थः(ख्), कुमतिः(स्) स्वप्नदृग् यथा ॥ 8॥

प्यारे उद्धव ! ज्ञानसम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही हैं; जैसे स्वप्न टूट जानेपर जगा हुआ पुरुष स्वप्नके स्मर्यमाण शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें रहनेपर भी उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु अज्ञानी पुरुष वास्तवमें शरीरसे कोई सम्बन्ध न होने पर भी अज्ञानके कारण शरीरमें ही स्थित रहता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्निक शरीरमें बँध जाता है ॥ 8 ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु , गुणैरपि गुणेषु च ।

गृह्यमाणेष्वहं(ङ्)कुर्यान्- न विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥ 9॥

व्यवहारादिमें इन्द्रियाँ शब्द-स्पर्शादि विषयोंको ग्रहण करती हैं; क्योंकि यह तो नियम ही है कि गुण ही गुणको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इसलिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूपको समझ लिया है, वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता ॥ 9 ॥

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्, गुणभाव्येन कर्मणा ।

वर्तमानोऽबुधस्तत्र, कर्तास्मीति निबद्ध्यते ॥ 10॥

यह शरीर प्रारब्धके अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणोंकी प्रेरणा से ही होते हैं। अज्ञानी पुरुष झूठमूठ अपनेको उन ग्रहण-त्याग आदि कर्मोंका कर्ता मान बैठता है और इसी अभिमानके कारण वह बँध जाता है ॥ १० ॥

एवं(म्) विरक्तः(श्) शयने, आसनाटनमज्जने ।

दर्शनस्पर्शनघ्राण- भोजनश्रवणादिषु ॥ 11॥

न तथा बद्ध्यते विद्वां(व्)स्- तत्र तत्रादयन् गुणान् ।

प्रकृतिस्थोऽप्यसं(व्)सक्तो, यथा खं(म्) सवितानिलः ॥ 12॥

वैशारद्येक्षयासं(ङ्)ग- शितया छिन्नसं(व्)शयः ।

प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्- नानात्वाद् विनिवर्तते ॥ 13॥

प्यारे उद्धव ! पूर्वोक्त पद्धतिसे विचार करके विवेकी पुरुष समस्त विषयोंसे विरक्त रहता है और सोने-बैठने, घूमने-फिरने नहाने देखने छूने, सँघने, खाने और सुनाने आदि क्रियाओंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता, बल्कि गुणोंको ही कर्ता मानता है। गुण ही सभी कर्मोंके कर्ता-भोक्ता हैं- ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष कर्मवासना और फलोंसे नहीं बँधते ।

वे प्रकृतिमें रहकर भी वैसे ही असंग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदिसे आकाश, जलकी आर्द्रता आदिसे सूर्य और गन्ध आदिसे वायु । उनकी विमल बुद्धिकी तलवार असंग भावनाकी सानसे और भी तीखी हो जाती है, और वे उससे अपने सारे संशय-सन्देहोंको काट कर फेंक देते हैं। जैसे कोई स्वप्नसे जाग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेदबुद्धिके भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं ।। 11-13 ॥

यस्य स्युर्वीतसं(ङ्)कल्पाः(फ्), प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।

वृत्तयः(स्) स विनिर्मुक्तो, देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥ 14॥

जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना संकल्पके होती हैं, वे देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त हैं ॥ 14 ॥

यस्यात्मा हिं(व्)स्यते हिं(व्)स्रैर्- येन किं(ञ्)चिद् यदृच्छया ।

अर्च्यते वा क्वचित्तत्र, न व्यतिक्रियते बुधः ॥ 15॥

उन तत्त्वज्ञ मुक्त पुरुषोंके शरीरको चहे हिंसक लोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई दैवयोगसे पूजा करने लगे-वे न तो किसीके सतानेसे दुःखी होते हैं और न पूजा करनेसे सुखी ॥ 15॥

न स्तुवीत न निन्देत, कुर्वतः(स्) साध्वसाधु वा ।

वदतो गुणदोषाभ्यां(म्), वर्जितः(स्) समदृङ्मुनिः ॥ 16॥

जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा; न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरी बात सुनकर किसीको झिड़कते ही हैं ॥ 16 ॥

न कुर्यान्न वदेत् किं(ञ्)चिन्- न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।

आत्मारामोऽनया वृत्त्या, विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ 17॥

जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हैं और न सोचते ही हैं। वे व्यवहारमें अपनी समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें ही मग्न रहते हैं और जड़के समान मानो कोई मूर्ख हो इस प्रकार विचरण करते रहते हैं ॥ 17 ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो, न निष्णायात् परे यदि ।

श्रमस्तस्य श्रमफलो, ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥ 18॥

प्यारे उद्धव ! जो पुरुष वेदोंका तो पारगामी विद्वान् हो, परन्तु परब्रह्मके ज्ञानसे शून्य हो, उसके परिश्रमका कोई फल नहीं है वह तो वैसा ही है, जैसे बिना दूधकी गायका पालनेवाला॥ 18 ॥

गां(न्) दुग्धदोहामसतीं(ञ्) च भार्यां(न्),

देहं(म्) पराधीनमसत्प्रजां(ञ्) च ।

वित्तं(न्) त्वतीर्थीकृतमं(ङ्)ग वाचं(म्),

हीनां(म्) मया रक्षति दुःखदुःखी ॥ 19॥

दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणोंसे रहित वाणी व्यर्थ है। इन वस्तुओंकी रखवाली करनेवाला दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है ॥ 19 ॥

यस्यां(न्) न मे पावनमं(ङ्)ग कर्म,

स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।

लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्-

वन्ध्यां(ङ्) गिरं(न्) तां(म्) बिभृयान्न धीरः ॥ 20॥

इसलिये उद्धव ! जिस वाणीमें जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप मेरी लोकपावन लीलाका वर्णन न हो और लीलावतारोंमें भी मेरे लोकप्रिय राम कृष्णादि अवतारोंका जिसमें यशोगान न हो, वह वाणी वन्ध्या है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि ऐसी वाणीका उच्चारण एवं श्रवण न करे ॥ 20 ॥

एवं(ञ्) जिज्ञासयापोह्य, नानात्वभ्रममात्मनि ।

उपारमेत विरजं(म्), मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥ 21॥

प्रिय उद्धव । जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, आत्म जिज्ञासा और विचारके द्वारा आत्मा में जो अनेकता का भ्रम है उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जाय ॥ 21 ॥

यद्यनीशो धारयितुं(म्), मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।

मयि सर्वाणि कर्माणि, निरपेक्षः(स्) समाचर ॥ 22॥

यदि तुम अपना मन परब्रह्ममें स्थिर न कर सको तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिये ही करो ॥22 ॥

श्रद्धालुर्मे कथाः(श्) शृण्वन्, सुभद्रा लोकपावनीः ।

गायन्ननुस्मरन् कर्म, जन्म चाभिनयन् मुहुः ॥ 23॥

मेरी कथाएँ समस्त लोकों को पवित्र करनेवाली एवं कल्याणस्वरूपिणी हैं। श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहिये। बार-बार मेरे अवतार और लीलाओंका गान, स्मरण और अभिनय करना चाहिये ॥ 23 ॥

मदर्थे धर्मकामार्था- नाचरन् मदपाश्रयः ।

लभते निश्चलां(म्) भक्तिं(म्), मय्युद्धव सनातने ॥ 24॥

मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थका सेवन करना चाहिये। प्रिय उद्धव । जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ 24 ॥

सत्सं(ङ्)गलब्धया भक्त्या , मयि मां(म्) य उपासिता ।

स वै मे दर्शितं(म्) सद्भि- रं(ञ्)जसा विन्दते पदम् ॥ 25॥

भक्तिकी प्राप्ति सत्संगसे होती है; जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है वह मेरी उपासना करता है, मेरे सान्निध्यका अनुभव करता है। इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतोंके उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बताये हुए मेरे परमपद को वास्तविक स्वरूप को सहज में प्राप्त हो जाता है ॥ 25॥

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक, मतः(ख्) कीदृग्विधः(फ्) प्रभो ।

भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत, कीदृशी सद्भिरादृता ॥ 26॥

उद्धवजीने पूछा— भगवन् ! बड़े-बड़े संत आपकी कीर्ति का गान करते हैं। आप कृपया बतलाइये कि आपके विचारसे संत पुरुषका क्या लक्षण है? आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिये, जिसका संत लोग आदर करते हैं ? ॥ 26 ॥

एतन्मे पुरुषाध्यक्ष, लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।

प्रणतायानुरक्ताय, प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥ 27॥

भगवन्! आप ही ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता, सत्यादि लोक और चराचर जगत् के स्वामी हैं। मैं

आपका विनीत, प्रेमी और शरणागत भक्त हूँ । आप मुझे भक्ति और भक्त का रहस्य बतलाइये ॥ 27 ॥

त्वं(म्) ब्रह्म परमं(म्) व्योम, पुरुषः(फ्) प्रकृतेः(फ्) परः ।

अवतीर्णोऽसि भगवन्, स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥ 28॥

भगवन्! मैं जानता हूँ कि आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है; फिर भी आपने लीलाके लिये स्वेच्छ से ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है। इसलिये वास्तवमें आप ही भक्ति और भक्तका रहस्य बतला सकते हैं ॥ 28॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्- तितिक्षुः(स्) सर्वदेहिनाम् ।

सत्यसारोऽनवद्यात्मा, समः(स्) सर्वोपकारकः ॥ 29॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा- प्यारे उद्धव ! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर से घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका सार है सत्य, और उसके मनमें किसी प्रकार की पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है ॥ 29 ॥

कामैरहतधीर्दान्तो, मृदुः(श्) शुचिरकिं(ञ्)चनः ।

अनीहो मितभुक् शान्तः(स्), स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ 30॥

उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव वाला और पवित्र होता है। संग्रह परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है। और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है॥ 30 ॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा, धृतिमां(ञ्)जितषड्गुणः ।

अमानी मानदः(ख्) कल्पो, मैत्रः(ख्) कारुणिकः(ख्) कविः ॥ 31॥

वह प्रमादरहित, गम्भीर स्वभाव वालाऔर धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक मोह और जन्म-मृत्यु – ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो कभी किसी से किसी प्रकार का सम्मान नहीं चाहता, परन्तु दूसरों का सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्ध की बातें दूसरोंको समझाने में बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रता का व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्व का उसे यथार्थ ज्ञान होता है ॥ 31 ॥

आज्ञायैवं(ङ्) गुणान् दोषान्, मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।

धर्मान् सन्त्यज्य यः(स्) सर्वान्, मां(म्) भजेत स सत्तमः ॥ 32॥

प्रिय उद्धव ! मैंने वेदों और शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उनके पालनसे अन्तःकरण शुद्धि आदि गुण और उल्लंघन से नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं; परन्तु मेरा जो भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदि में विक्षेप समझकर त्याग देता है और केवल मेरे ही भजनमें लगा रहता है, वह परम संत है ॥ 32 ॥

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां(म्), यावान् यश्चास्मि यादृशः ।

भजन्त्यनन्यभावेन, ते मे भक्ततमा मताः ॥ 33॥

मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ इन बातोंको जाने, चाहे न जाने किन्तु जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचारसे मेरे परम भक्त हैं ॥ 33 ॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजन- दर्शनस्पर्शनार्चनम् ।

परिचर्या स्तुतिः(स्) प्रह्व- गुणकर्मानुकीर्तनम् ॥ 34॥

प्यारे उद्धव ! मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति और प्रणाम करे तथा मेरे गुण और कर्मोंका कीर्तन करे ॥ 34 ॥

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा, मदनुध्यानमुद्धव ।

सर्वलाभोपहरणं(न्), दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ 35॥

उद्धव ! मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा रखे और निरन्तर मेरा ध्यान करता रहे। जो कुछ मिले, वह मुझे समर्पित कर दे और दास्यभावसे मुझे आत्मनिवेदन करे ॥ 35 ॥

मज्जन्मकर्मकथनं(म्), मम पर्वानुमोदनम् ।

गीतताण्डववादित्र- गोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ 36॥

मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंकी चर्चा करे। जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पर्वोपर आनन्द मनावे और संगीत, नृत्य, बाजे और समाजों द्वारा मेरे मन्दिरों में उत्सव करे, करावे ॥ 36 ॥

यात्रा बलिविधानं(ञ्) च, सर्ववार्षिकपर्वसु ।

वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा, मदीयव्रतधारणम् ॥ 37॥

वार्षिक त्योहारों के दिन मेरे स्थानों की यात्रा करे, जुलूस निकाले तथा विविध उपहारों से मेरी पूजा करे। वैदिक अथवा तान्त्रिक पद्धतिसे दीक्षा ग्रहण करे। मेरे व्रतों का पालन करे ॥ 37 ॥

ममार्चास्थापने श्रद्धा, स्वतः(स्) सं(व्)हत्य चोद्यमः ।

उद्यानोपवनाक्रीड- पुरमन्दिरकर्मणि ॥ 38॥

मन्दिरों में मेरी मूर्तियों की स्थापना में श्रद्धा रखे । यदि यह काम अकेला न कर सके, तो औरों के साथ मिलकर उद्योग करे। मेरे लिये पुष्पवाटिका, बगीचे, क्रीड़ाके स्थान, नगर और मन्दिर बनवावे ॥ 38 ॥

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां(म्), सेकमण्डलवर्तनैः ।

गृहशुश्रूषणं(म्) मह्यं(न्), दासवद् यदमायया ॥ 39॥

सेवककी भाँति श्रद्धा-भक्ति के साथ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरोंकी सेवा-शुश्रूषा करे-झाड़े-बुहारे, लीपे-पोते, छिड़काव करे और तरह तरहके चौक पूरे ॥39॥

अमानित्वमदम्भित्वं(ङ्), कृतस्यापरिकीर्तनम् ।

अपि दीपावलोकं(म्) मे, नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ 40॥

अभिमान न करे, दम्भ न करे। साथ ही अपने शुभ कर्मोंका ढिंढोरा भी न पीटे प्रिय उद्धव ! मेरे चढ़ावे को अपने काममें लगानेकी बात तो दूर रही, मुझे समर्पित दीपकके प्रकाशसे भी अपना काम न ले। किसी दूसरे देवताकी चढ़ायी हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे ॥ 40 ॥

यद् यदिष्टतमं(म्) लोके, यच्चातिप्रियमात्मनः ।

तत्तन्निवेदयेन्मह्यं(न्), तदानन्त्याय कल्पते ॥ 41॥

संसार में जो वस्तु अपने को सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे वह वस्तु अनन्त फल देनेवाली हो जाती है ॥ 41॥

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो, वैष्णवः(ख्) खं मरुज्जलम् ।

भूरात्मा सर्वभूतानि, भद्र पूजापदानि मे ॥ 42॥

भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी-ये सब मेरी पूजाके स्थान हैं ।। 42 ।।

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या, हविषाग्नौ यजेत माम् ।

आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये, गोष्वं(ङ्)ग यवसादिना ॥ 43॥

प्यारे उद्धव ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्र द्वारा सूर्य में मेरी पूजा करनी चाहिये हवनके द्वारा अग्निमें आतिथ्य द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मण में और हरी-हरी घास आदिके द्वारा गौ में मेरी पूजा करे ॥ 43 ॥

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या, हृदि खे ध्याननिष्ठया ।

वायौ मुख्यधिया तोये, द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ 44॥

भाई-बन्धुके समान सत्कार के द्वारा वैष्णव में, निरन्तर ध्यानमें लगे रहने से हृदयाकाशमें,

मुख्य प्राण समझने से वायु में और जल पुष्प आदि सामग्रियों द्वारा जल में मेरी आराधना की जाती है ॥ 44 ॥

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्- भोगैरात्मानमात्मनि ।

क्षेत्रज्ञं(म्) सर्वभूतेषु , समत्वेन यजेत माम् ॥ 45॥

गुप्त मन्त्रों द्वारा न्यास करके मिट्टी की वेदी में, उपयुक्त भोगों द्वारा आत्मा में और समदृष्टि द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि मैं सभी में क्षेत्रज्ञ आत्माके रूप से स्थित हूँ ॥ 45 ॥

धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं(म्), शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।

युक्तं(ञ्) चतुर्भुजं(म्) शान्तं(न्), ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥ 46॥

इन सभी स्थानों में शंख चक्र-गदा-पद्म धारण किये चार भुजाओंवाले शान्त मूर्ति श्री भगवान् विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करते हुए एकाग्रता के साथ मेरी पूजा करनी चाहिये ॥ 46 ॥

इष्टापूर्तेन मामेवं(म्), यो यजेत समाहितः ।

लभते मयि सद्भक्तिं(म्), मत्स्मृतिः(स्) साधुसेवया ॥ 47॥

इस प्रकार जो मनुष्य एकाग्र चित्त से यज्ञ-यागादि इष्ट और कुआँ- बावड़ी बनवाना आदि पवित्र कर्मों द्वारा मेरी पूजा करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त होती है तथा संत पुरुषों की सेवा करने से मेरे स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है ॥ 47 ॥

प्रायेण भक्तियोगेन , सत्सं(ङ्)गेन विनोद्धव ।

नोपायो विद्यते सध्यङ्- प्रायणं(म्) हि सतामहम् ॥ 48॥

प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्संग और भक्तियोग- इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये । प्रायः इन दोनों के अतिरिक्त संसार सागर से पार होने का और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि संतपुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ ॥ 48 ॥

अथैतत् परमं(ङ्) गुह्यं(म्), शृण्वतो यदुनन्दन ।

सुगोप्यमपि वक्ष्यामि , त्वं(म्) मे भृत्यः(स्) सुहृत् सखा ॥ 49॥

प्यारे उद्धव ! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त गोपनीय परम रहस्य की बात बतलाऊँगा; क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक, हितैषी, सुहृद् और प्रेमी सखा हो; साथ ही सुननेके भी इच्छुक हो॥ 49॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां
संहितायामेकादशस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥11॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/gRT40wLmWEk